दंसण मूलो धम्मो

आत्मधर्म

शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिकपत्र

वर्ष सातवाँ
अंक दसवाँ

: संपादक :
रामजी माणेकचंद दोशी
वकील

माघ
2478

तो मनुष्य भव किस काम का ?

कोई कहे कि 'आत्मा की सूक्ष्म बात हमारी समझ में नहीं आती।' किन्तु भाई ! आत्मा की बात समझ में नहीं आती – ऐसा तू कहे तो अनंतकाल में यह महा दुर्लभ मनुष्यभव प्राप्त होने का अर्थ ही क्या ? आत्मा के भान बिना जगत में अनेक कुत्ते-कौए जन्म लेते हैं और मरते हैं, उनकी कोई महिमा नहीं है। उसीप्रकार अनंतकाल में महान दुर्लभ मनुष्यभव प्राप्त करके सत्समागम द्वारा अपूर्व आत्मस्वभाव को न जाने तो उसका कोई मूल्य नहीं है और यदि पात्रता द्वारा आत्मस्वभाव को जाने तो उस ज्ञान की महिमा अपार है।

जितना काल पर के लिए लगाता है, उतना यदि स्व के लिए लगाये तो कल्याण हुए बिना न रहे। भाई ! अनंतकाल में महान दुर्लभ मनुष्यभव प्राप्त हुआ, उसमें कल्याण न किया तो फिर कब करेगा ?

— समयसार प्रवचन से

वार्षिक मूल्य
तीन रुपया

82

एक अंक
चार आना

जैन स्वाध्याय मन्दिर : सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

इस अंक के लेख

1- शुद्धात्मा का ध्यान ही धर्म, और उसकी पात्रता का वर्णन।

2- पामर कल्याण का मूल सम्यग्दर्शन प्रगट होने की भूमिका।

3- 'जो आत्मा को शुद्ध जानता है, उसे शुद्धात्मा की प्राप्ति होती है।'

'अवसर बारबार नहिं आवे....'

इस काल में सम्यक् समझ अत्यंत दुर्लभ है। प्रभु! तुझे अपूर्व समझने का अमूल्य अवसर प्राप्त हुआ है, उसमें चूका तो फिर अनंत काल में मनुष्यभव और ऐसा सुयोग मिलना दुर्लभ है। अनंत बार धर्म के नाम पर कदाग्रह में, बाह्य साधनों में रुका रहा। अब परम सत्य क्या है उसकी दरकार नहीं करेगा तो फिर अनंत काल तक ठिकाना नहीं पड़ेगा। इसलिये सत्य क्या है, उसे स्वयं अंतरअनुभव से निश्चित कर,—ऐसा आचार्य भगवान कहते हैं। यहाँ अनुभव की मुख्यता है; उससे शुद्धस्वरूप का निर्णय करो। बाह्य तर्क-वितर्क का काम नहीं है।

– समयसार प्रवचन से

आत्मधर्म

माघ 2478 ★ वर्ष सातवाँ ★ अंक दसवाँ

शुद्धात्मा का ध्यान ही धर्म, और उसकी पात्रता का वर्णन

(प्रवचन से उद्धृत)

सच्चे देव-गुरु-शास्त्र की पहिचान तो प्रथम होती है, किन्तु यहाँ उस बारदान की बात गौण है, यहाँ तो उसका भी लक्ष छुड़ाकर अपने अभेद चैतन्यमात्र स्वभाव की श्रद्धा करने की बात है, क्योंकि वही अनंतकाल में नहीं किया है। अनंतबार भगवान की दिव्यध्वनि सुनी किन्तु अपने आत्मा की ओर उन्मुख नहीं हुआ, इसलिए कल्याण नहीं हुआ। इसलिए पराश्रय छुड़ाकर स्वाश्रय करने के लिए श्री आचार्यदेव कहते हैं कि हे जीव ! इस एक ध्रुव चैतन्यस्वभाव के अतिरिक्त समस्त परद्रव्यों का आलम्बन आत्मा को अशुद्धता का कारण है – ऐसा तू जान और उन समस्त परद्रव्यों का अवलम्बन छोड़कर अपने शुद्ध आत्मस्वभाव का ही अवलम्बन कर। प्रथम श्रद्धा में उसका आलम्बन करने से सम्यग्दर्शन होता है और तत्पश्चात् स्थिरतारूप से उसका आलम्बन करने से सम्यक्चारित्र होता है। इसके अतिरिक्त तीर्थंकर भगवान की दिव्यध्वनि का आलम्बन भी तेरे आत्मा को मलिनता का कारण है। ध्रुव आत्मा के अतिरिक्त किसी भी परद्रव्य के सन्मुख देखने से विकार होता है – ऐसा जानकर जो जीव अपने श्रद्धा-ज्ञान को चैतन्यस्वभाव में एकाग्र करता है, उसका मोह क्षय हो जाता है। चैतन्य पर श्रद्धा रखना ही मोहक्षय का मार्ग है।

इसप्रकार जितने वर्तमान में ध्रुव परिपूर्ण चैतन्यस्वरूप की श्रद्धा की, वह विशुद्ध आत्मा हुआ। अभी केवलज्ञान नहीं हुआ है, किन्तु सम्यग्दर्शन हुआ है, वहीं उसे विशुद्ध आत्मा कहा है। उस विशुद्ध आत्मा को अपने अनंतशक्तिवाले चिन्मात्र परम आत्मा का एकाग्र संचेतन लक्षण ध्यान

होता है। ऐसा चैतन्यपरमात्मा का ध्यान ही सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का उपाय है।

8. आत्मा की शुद्धता किसे होती है ?

आत्मा का त्रिकाल ध्रुव चैतन्यस्वभाव है और उस स्वभाव को बतलानेवाले सच्चे देव-गुरु-शास्त्र जगत में त्रिकाल जयवन्त वर्तते हैं, किन्तु वे मुझ से पर हैं, इसलिए उनके लक्ष से भी मेरा कल्याण नहीं होता। प्रथम तो जहाँ तक सच्चे देव-गुरु-शास्त्र को पहिचानकर न माने, तबतक स्वभाव की ओर उन्मुख नहीं हो सकता और सच्चे देव-गुरु-शास्त्र को मानने पर भी यदि स्वभाव की ओर उन्मुख न हो तो भी कल्याण नहीं होता।

आत्मा के अतिरिक्त जो परद्रव्य हैं, उनके लक्ष से, उनके अवलम्बन से पर्याय में विकार होता है और ध्रुव चैतन्य के आलम्बन से ही शुद्धता होती है, इसप्रकार जो स्पष्टरूप से स्व-पर का विभाग न बतलावें, वे तो परलक्ष छोड़कर स्वभाव का ध्यान करना नहीं बतला सकते, इसलिए वे तो सब झूठे देव, झूठे गुरु और झूठे शास्त्र हैं। जगत में आत्मा के अतिरिक्त परद्रव्य हैं और आत्मा को परद्रव्य के लक्ष से विकार भी है - इसे जो न माने, उसको परलक्ष से छूटकर स्वलक्ष करना नहीं रहता। परवस्तु हैं और उसके लक्ष से विकार भी अपनी पर्याय में होता है - ऐसा माने तो परलक्ष से छूटकर स्वलक्ष की ओर ढल सकता है। जगत में परद्रव्य हैं—ऐसा मनायें; पर के ऊपर जीव का लक्ष जाता है और जीव अपनी भूल से पर्याय में विकार करता है - ऐसा मनायें तथा उस विकाररहित ध्रुव चैतन्यस्वभाव त्रिकाल है, उसे भी मनायें और पराश्रय छोड़कर उस ध्रुव स्वभाव का ध्यान करना बतलावें, वे ही सच्चे देव-गुरु-शास्त्र हैं। परन्तु वे झूठे देव-गुरु-शास्त्र अथवा यह सच्चे देव-गुरु-शास्त्र - दोनों इस आत्मा को परद्रव्य हैं, उनके लक्ष से आत्मा अशुद्ध होता है और उन दोनों से भिन्न अपना चैतन्यस्वभाव ध्रुव है, उसके लक्ष से ही शुद्धता होती है - ऐसा निश्चित करके जो ध्रुव चैतन्य आत्मा की श्रद्धा-ज्ञान-लीनता करे, वह आत्मा विशुद्ध होता है। ध्रुव चैतन्यस्वभाव तो त्रिकाल शुद्ध है ही और उसके अवलम्बन से श्रद्धा-ज्ञान करने से पर्याय में भी वह आत्मा विशुद्ध होता है। स्वज्ञेय से च्युत होकर परज्ञेय में रुकने से विकार की उत्पत्ति होती है और चैतन्य की शुद्धता का घात होता है। अपने निर्विकारी ध्रुव चैतन्यतत्त्व को ही स्वज्ञेय करके उसके अवलम्बन से एकाग्र होऊँ तो आत्मा को शुद्धता का लाभ होता है - ऐसा समझ कर जो परम शुद्ध आत्मा को ध्याता है, उसके मोह का क्षय होता है।

9. शुद्धात्मा का ध्यान ही धर्म

पर से लाभ-हानि मानना या शरीर को आत्मा मानना अथवा विकार से धर्म मानना, वह बहिरात्मपना है। परम शुद्ध आत्मा की श्रद्धा से जीव उस बहिरात्मपने को (अधर्मीपने को) टालकर अंतरात्मा (धर्मी) होता है और इसप्रकार अंतरात्मा होकर तत्पश्चात् पूर्ण परमात्मदशा प्रगट करने के लिए भी उस परम शुद्ध आत्मा को ही ध्याता है। इस शुद्ध आत्मा का ध्यान ही सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र है, वही मोक्षमार्ग है, वही धर्म है, वही शुद्ध उपयोग है। धर्म के जितने प्रकार कहो, वे सब उसमें आ जाते हैं।

10. चैतन्य का ध्यान कौन कर सकता है ?

मेरा चैतन्यतत्त्व परलक्ष से होनेवाले विकार जितना नहीं है, किन्तु स्थायी ध्रुव है, ऐसी जो श्रद्धा करे, वह आत्मा का ध्यान कर सकता है, क्योंकि उसने पर को तुच्छ (अशरण) जाना; इसलिए उसमें एकाग्रता करना नहीं रहा। अपने शुद्ध चैतन्यतत्त्व को ही ध्रुव महिमामय शरणरूप जाना, इसलिए उसमें ही एकाग्र होना रहा। शुद्ध चिदानन्द आत्मा की प्रतीति, ज्ञान और रमणता - यह तीनों आत्मा के ध्यानस्वरूप ही हैं। जगत में स्व और पर भिन्न-भिन्न तत्त्व हैं, उनमें से स्वभावोन्मुख होने जैसा है, परोन्मुख होने से लाभ नहीं है - ऐसा जिसने निश्चित किया हो, वही चैतन्य का ध्यान कर सकता है।

11. 'जिनेश्वर के लघुनंदन' की श्रद्धा कैसे होती है ?

मैं शुद्ध चैतन्य कारणपरमात्मा हूँ, उसी में से मेरी पूर्ण निर्मल कार्यपरमात्मदशा प्रगट होना है। ऐसा मेरी निर्मलदशारूपी कार्य का कारण है। इसके अतिरिक्त कोई शुभभाव या निमित्तादि परपदार्थ मेरी निर्मलदशा का कारण नहीं हैं। क्षणिक शुभ-अशुभभाव होते हैं, तथापि ऐसे स्वभाव का निर्णय करना चाहिए, स्वभाव के निर्णय का बल विकार को तोड़ देता है। निचली साधकदशा में भक्ति-पूजा-प्रभावनादि के भाव हों, व्रतादि भाव हों, किन्तु साधक जीव उस शुभराग को धर्म का कारण नहीं मानते। साधक की श्रद्धा में ध्रुव चैतन्यस्वभाव का ही अवलम्बन है, वह कभी भी नहीं हटता, श्रद्धा में ध्रुव चैतन्यस्वभाव आया है, वह कभी नहीं भूलता। मुनि को छठवें गुणस्थान में महाव्रतादि के शुभभाव आते हैं, किन्तु वह धर्म नहीं है, ध्रुव चैतन्यस्वभाव में एकाग्रता ही धर्म है। मुनियों को सहज वस्त्ररहित निर्ग्रन्थ निर्दोष दशा होती है और अंतर में निज परम शुद्ध आत्मा

को ही श्रद्धा-ज्ञान में लेकर ध्याते हैं। चौथे गुणस्थानवाले धर्मात्मा को भी किसी समय श्रद्धा में से परम शुद्ध आत्मा का ध्यान नहीं टलता, श्रद्धा द्वारा वह सदैव पर्याय-पर्याय में परम शुद्ध आत्मा को ध्याता है, इसलिए वह 'विशुद्ध आत्मा' हुआ है। ऐसा विशुद्ध आत्मपना चौथे गुणस्थान से प्रारम्भ होता है, उसे 'जिनेश्वर का लघु नंदन' कहा जाता है।

12. चैतन्यतत्त्व की महिमा और दुर्लभता

अहो, आत्मा के शुद्धस्वभाव की अत्यंत महिमावाली बात जीवों ने यथार्थरूप से कभी नहीं सुनी। आजकल चैतन्यतत्त्व की महिमा की सच्ची बात सुनने को मिलना भी अति दुर्लभ हो गया है। जो जीव अत्यन्त जिज्ञासु और योग्य होकर आत्मस्वभाव की यह बात सुने, उसका कल्याण हो सकता है।

13. जहाँ लाभबुद्धि, वहाँ एकताबुद्धि; जहाँ एकताबुद्धि, वहाँ एकाग्रता

आत्मा की अवस्था में पराश्रय से जो विकार होता है, उस विकार से परवस्तुएँ पृथक् हैं, इसलिए परवस्तुएँ आत्मा को विकार नहीं कराती। जीव स्वयं स्वोन्मुखता छोड़कर परोन्मुखता द्वारा उन्हें विकार का निमित्त बनाये है तो वे विकार का निमित्त होती हैं और जीव स्वयं स्वलक्ष में रहकर विकार न करे तो वे परवस्तुएँ जीव के ज्ञान का ज्ञेय होती हैं, इसप्रकार प्रथम तो पर से आत्मा का भेदज्ञान करना चाहिए। आत्मा की अवस्था में क्षणिक विकार होता है, वह पराश्रय करने से ही होता है, इसलिए जहाँ पर से अत्यंत पृथक्त्व निश्चित किया, वहाँ विकार से पृथक्त्व का निर्णय भी उसमें आ ही गया। ध्रुव चैतन्यस्वभाव के सन्मुख होते ही पर से और विकार से भेदज्ञान हो गया। भले ही अवस्था में व्यवहार हो-राग हो-निमित्त हो, किन्तु उन किसी से मेरा धर्म नहीं होता, मेरा धर्म तो ध्रुव चैतन्य के आश्रय से ही होता है - ऐसा धर्मी का निर्णय है। शुद्ध आत्मा की श्रद्धा ज्ञान करने से पर में और विकार में एकताबुद्धि दूर हो जाती है। पर में एकताबुद्धि थी, तब स्वभाव में एकतारूप परिणमन (सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र) नहीं होता था और जहाँ स्वभाव में एकतारूप परिणमन हुआ, वहाँ पर में एकताबुद्धिरूप परिणमन दूर हो गया। जीव जिससे अपने को लाभ मानता है, उसका आलम्बन और उसमें एकताबुद्धि नहीं छोड़ता। अज्ञानी जीव शुभराग से और निमित्त से लाभ मानता है, इससे वह उसी में एकताबुद्धि नहीं छोड़ता, इसलिए मिथ्यादृष्टि रहता है। धर्मी जीव राग और निमित्त को जानता है, किन्तु उससे अपने को लाभ नहीं मानता, इसलिए उसमें

एकताबुद्धि नहीं करता, किन्तु ध्रुव चैतन्यस्वभाव के आधार से ही लाभ मानता है, इसलिए उसी में एकताबुद्धि है और जहाँ एकताबुद्धि हुई है, वहीं ध्रुव चैतन्यस्वभाव में ही बारम्बार लक्ष को एकाग्र किये बिना नहीं रहता और वह किसी पर से या विभाव से लाभ नहीं मानता, इसलिए पर में से और विकार में से एकाग्रता हटे बिना नहीं रहती – ऐसे धर्मी जीवों को परम निजस्वभाव का ध्यान होता है और उस ध्यान के बल से उनका मोह नष्ट हो जाता है। वे धर्मी साकार हों या अनाकार (अणगार) हों – दोनों को चैतन्य के ध्यान से मोह का क्षय हो जाता है।

14. क्षयोपशम होने पर भी क्षायिक जैसी दृढ़ता

श्री आचार्यदेव ने ध्रुवस्वभाव के आश्रय से मोह के क्षय की ही बात कही है। अभेद शुद्धस्वभाव की ओर ढलने से मिथ्यात्व की दृढ़ गांठ छूट जाती है। इस पंचमकाल के जीवों को क्षायिक सम्यक्त्व नहीं होता, इसकी आचार्यदेव को खबर है, तथापि आचार्यदेव अपनी दृढ़ प्रतीति के बल से अप्रतिहतभाव से मोहक्षय की ही बात करते हैं। क्षयोपशम सम्यक्त्व से भी जिस मिथ्यात्व का अभाव हुआ, वह फिर कभी नहीं होना है, क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त होने तक बीच में श्रद्धा में भंग नहीं पड़ना है, इसलिए क्षयोपशम सम्यक्त्व होने पर भी हम मोह का क्षय ही देखते हैं – ऐसा श्री आचार्यदेव के भाव में बल है। यही मोहक्षय का उपाय है।

मिथ्यादृष्टि अनंतसंसारी जीव राशि की विपरीत श्रद्धा

''(राग जन्मनि कहतां) रागद्वेष मोह अशुद्ध परिणतिरूप परिणवै छै जीवद्रव्य तिहि विषै, (परद्रव्यं कहतां) आठ कर्म शरीरादि नोकर्म तथा बाह्य सामग्री, (निमित्ततां कलयंति कहतां) पुद्गलद्रव्य को निमित्त पाया जीव रागादि अशुद्ध परिणवै छे – इसो श्रद्धान करै छै जे कोई जीवराशि ते मिथ्यादृष्टि छे, अनंतसंसारी छै।' – समयसार कलश, टीका, पृ. 258–9

आधुनिक हिन्दी में उपर्युक्त कथन का अर्थ

रागद्वेषमोह अशुद्धपरिणतिरूप जीवद्रव्य परिणमता है। यहाँ पर, परद्रव्य अर्थात् कर्म-शरीरादि नोकर्म एवं बाह्य सामग्रीरूप पुद्गलद्रव्य का निमित्त पाकर जीव रागादि अशुद्ध परिणमता है – ऐसी श्रद्धा जो कोई जीवराशि करता है, वह मिथ्यादृष्टि है, अनंतसंसारी है।

आत्मार्थी का पहला कर्तव्य-7

परम कल्याण का मूल -
सम्यग्दर्शन प्रगट होने की भूमिका

(वीर सं. 2476 भाद्रप्रद शुक्ला 4 शुक्रवार)

जिसे अपने आत्मा का हित करना हो, उसे सर्वप्रथम क्या करना चाहिए - वह बात चल रही है। जो आत्मार्थी है अर्थात् जिसे अपना कल्याण करने की भावना है, उसे देह से भिन्न चैतन्यमूर्ति आत्मा कौन है, वह जानना चाहिए। आत्मा को जानने के लिए प्रथम नवतत्त्वों का ज्ञान करना चाहिए। उन नवतत्त्वों में प्रथम जीव और अजीव - यह दो प्रकार के तत्त्व अनादि अनंत हैं, किसी ने उन्हें बनाया नहीं है और न कभी उनका नाश होता है। जीव और अजीव यह दो स्वतंत्र तत्त्व हैं और उन दो के संबंध से दोनों की अवस्था में सात तत्त्व होते हैं। आत्मा में अपनी योग्यता से पुण्य, पापादि सात प्रकार की अवस्था होती है और उसके निमित्तरूप अजीव में भी वे सात प्रकार होते हैं।

आत्मा चैतन्यवस्तु त्रिकाली है, किन्तु उसे भूलकर अवस्था में मिथ्यात्व और राग-द्वेष से अज्ञानी जीव अनादिकाल से बँधा हुआ है, वह बंधनभाव आत्मा की योग्यता से है, किसी दूसरे ने उसे बंधन नहीं किया है। जीव को वर्तमान अवस्था में यदि भावबंधन न हो तो आनंद का प्रगट अनुभव होना चाहिए, किन्तु आनंद का प्रगट अनुभव नहीं है क्योंकि वह अपनी पर्याय में विकार के भावबंधन से बँधा हुआ है। स्फटिक के उज्ज्वल-स्वच्छ स्वरूप में जो लाल-काली झलक पड़ती है, वह उसका मूल स्वरूप नहीं है, किन्तु स्फटिक का विकार है, उपाधि है। उसीप्रकार जीव का स्वच्छ चैतन्यस्वभाव है, उसकी अवस्था में जो पुण्य-पाप के भाव होते हैं, वह उसका स्वरूप नहीं किन्तु विकार है, बंधन है। विकारभाव जीवबंध है और उसमें निमित्तरूप जड़कर्म हैं, वह अजीव बंध हैं। इसप्रकार जीव-अजीव दोनों की अवस्था भिन्न-भिन्न है। यदि परनिमित्त की अपेक्षा के बिना मात्र आत्मा के स्वभाव से विकार हो, तब तो वह स्वभाव हो जाये और कभी दूर न

हो सके। किन्तु विकार उस जीव की अवस्था की क्षणिक योग्यता है और उसमें द्रव्यकर्म निमित्तरूप है। निमित्त के आश्रय से विकार होता है, स्वभाव के आश्रय से विकार या बंधनभाव नहीं होता।

(यहाँ तक आठ तत्त्वों का विवेचन हुआ, अब नवमें तत्त्व का विवेचन होता है)

नवमां मोक्षतत्त्व है। जीव की पूर्ण पवित्र सर्वज्ञ वीतरागी आनंद पर्याय, सो मोक्ष है। उस मोक्षरूप होने की योग्यता जीव की अवस्था है और जड़कर्म का अभाव उसमें निमित्तरूप हैं। जीव में पवित्र मोक्षभाव प्रगट हुआ, वहाँ कर्म अपने आप छूट गये। जीव और अजीव दो त्रिकाली तत्त्व हैं, उन्हें और उनकी पर्याय में सात तत्त्वरूप परिणमन होता है - इसप्रकार नवों तत्त्वों को पहिचानना चाहिए।

मोक्षरूप होने की योग्यता जीव की है और जड़कर्म का छूट जाना, वह निमित्त है, वह अजीव-मोक्ष है। इसप्रकार यहाँ प्रथम तो मोक्षतत्त्व की पहिचान कराई है। अंतरस्वभाव के आश्रय से जीव की परिपूर्ण पवित्र दशा प्रगट हो, उसे मोक्ष कहते हैं और अजीवकर्म छूट जाने -रूप पुद्गल की अवस्था को मोक्ष कहा जाता है। मोक्षतत्त्व को जान लिया, उससे मोक्ष नहीं हो जाता, किन्तु मोक्ष आदि नवों तत्त्वों को जान लेने के पश्चात् उस भेद का आश्रय छोड़कर अंतर के अभेदस्वभाव के आश्रय से मोक्षदशा प्रगट होते हैं।

इसप्रकार जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष - इन नवतत्त्वों की पहिचान कराई, इन नवतत्त्वों को पहिचानने का प्रयोजन क्या है, वह अब कहेंगे। नवतत्त्वों को पहिचानकर अंतर में अभेद चैतन्यमूर्ति स्वभाव का शुद्धनय से अनुभव करना ही प्रयोजन है और ऐसा अनुभव करना ही सम्यग्दर्शन है, वह कल्याण का मूल है।

देखो, चैतन्य की प्रतीति अनंतकाल में कभी नहीं की, अनादिकाल से संसार-परिभ्रमण कर रहा है, उसमें चैतन्य की समझ का मार्ग लेने के अतिरिक्त अन्य सब बाह्य साधन किये हैं, किन्तु संसार परिभ्रमण दूर नहीं हुआ, क्योंकि चैतन्य को समझना ही संसार परिभ्रमण को दूर करने का उपाय है, वह उपाय शेष रहा गया है। श्रीमद् राजचंद्रजी निम्न काव्य द्वारा 'कौन सा साधन शेष रह गया है' वह बतलाते हुए कहते हैं कि -

यम नियम संयम आप कियो, पुनि त्याग विराग अथाग लह्यो।
वनवास रह्यो, मुख मौन रह्यौ, दृढ़ आसन पद्म लगाया दियो।।

वह साधन बार अनंत कियो, तदपि कछु हाथ हजु न पर्यो,
अब क्यों न विचारत है मनसें, कछु और रहा उन साधन सें।।

त्याग, वैराग्य आदि सभी साधन किये, किन्तु चैतन्यस्वरूपी अपना आत्मा कौन है, उसे समझनेरूप सच्चा साधन शेष रह गया, इसलिए जीव किंचित् कल्याण प्राप्त न कर सका।

भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव कहते हैं कि हे भव्य आत्माओ ! आत्मा के अभेदस्वरूप का अनुभव करते हुए बीच में नवतत्त्वों की भेदरूप प्रतीति आये बिना नहीं रहती, किन्तु उन नवतत्त्वों के भेदरूप विकार का ही आश्रय मानकर मत रुकना, नवतत्त्वों के भेदरूप विकार के आश्रय से रुकने में सम्यक् आत्मा अनुभव में नहीं आता, किन्तु उस भेद का आश्रय छोड़कर रगामिश्रित विचार का अभाव करके, अभेदस्वभावसन्मुख होकर शुद्ध आत्मा का निर्विकल्प अनुभव और प्रतीति करने से सम्यक्श्रद्धा होती है, वह आत्मा के कल्याण का उपाय है।

अवस्था में जीव की योग्यता और अजीव का निमित्तपना – ऐसा निमित्त-नैमित्तिकसंबंध यदि न हो तो सात तत्त्व ही सिद्ध नहीं होते। जीव और अजीव की अवस्था में निमित्त-नैमित्तिक संबंध है, उस दृष्टि से देखने से नवतत्त्वों के भेद विद्यमान हैं और यदि मात्र चैतन्यमूर्ति अखण्ड जीवतत्त्व को लक्ष में लें तो द्रव्यदृष्टि में निमित्त-नैमित्तिक संबंध भी न होने से, नवतत्त्वों के भेद नहीं पड़ते, इसलिए शुद्ध चैतन्यस्वभाव की दृष्टि से देखने पर नवतत्त्व अभूतार्थ हैं और एक चैतन्य परमतत्त्व ही प्रकाशमान है। यद्यपि वर्तमान निर्मल पर्याय है अवश्य, किन्तु वह अभेद में मिल जाती है अर्थात् द्रव्य और पर्याय के भेद का विकल्प उस जीव के नहीं है। ऐसा अनुभव ही सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र है।

जीव के भावरूप सात तत्त्व जीव में हैं और उसमें निमित्तरूप जड़ की अवस्था में सात तत्त्व हैं, वे अजीव में हैं। ऐसे सात प्रकार अकेले शुद्ध जीव में या अकेले शुद्ध अजीव में नहीं होते। इन नवतत्त्वों का अनेक-अनेक प्रकार से वर्णन किया गया है। उसीप्रकार नवतत्त्वों का निर्णय किए बिना आत्मा का स्वरूप नहीं समझा जा सकता और अपना स्वरूप क्या है, उसे समझे बिना चैतन्यमूर्ति की प्राप्ति नहीं होती।

'अमूल्य तत्त्वविचार' में श्रीमद् राजचंद्रजी कहते हैं कि –

'हुं कोण छुं ? क्यांथी थयो ? शुं स्वरूप छे मारुं खरुं ?
कोना संबंधे बलगणा छे ? राखुं के अे परिहरुं ?
अेना विचार विवेकपूर्वक शांत भावे जो कर्या,
तो सर्व आत्मिकज्ञाननां सिद्धान्त तत्त्वो अनुभव्यां।'

इसमें जीव के स्वरूप का विचार करके निर्णय करना कहा है। जीव संबंधी विचार करने से नवों तत्त्वों का विचार उसमें आ जाते हैं। मैं चैतन्यस्वरूप जीव हूँ, शरीरादि अजीव हैं, वह मैं नहीं हूँ, पुण्य-पाप-आस्रव और बंध – यह भाव दु:खरूप हैं, संवर-निर्जराभाव सुख के कारण हैं, वह धर्म हैं, मोक्ष पूर्णसुखरूप निर्मलदशा है। इसप्रकार एक जीव संबंधी विचार करने से नवों तत्त्व आ जाते हैं।

जीव और अजीव तो स्वतंत्र तत्त्व हैं और उनमें से जीव की अवस्था में पुण्य-पाप-आस्रव-संवर-निर्जरा-बंध और मोक्ष ऐसे सात प्रकार अपनी योग्यता से पड़ते हैं, तथा अजीव तत्त्व उनमें निमित्तरूप है, उसकी अवस्था में भी पुण्य-पाप आदि सात प्रकार पड़ते हैं। एक आत्मा ही सर्व व्यापक है और दूसरा सब भ्रम है – ऐसा जो मानते हैं, उन्हें सातत्त्व नहीं रहते और सातत्त्व के ज्ञान बिना आत्मा का ज्ञान नहीं हो सकता। सातों तत्त्वों में दो-दो बोल लागू होते हैं, एक जीवरूप है और दूसरा अजीवरूप है।

आत्मा को समझे बिना जीव का अनंतकाल बीत गया, उस अनंतकाल में अन्य बाह्य उपायों को कल्याण का साधन माना, किन्तु अन्तर में सिद्ध भगवान जैसा चैतन्यमूर्ति आत्मा विराजमान है, उसकी शरण लूँ तो कल्याण प्रगट हो – ऐसा कभी नहीं माना। पूजा, भक्ति, व्रत, उपवास आदि के शुभराग को और क्रियाकाण्ड को मुक्ति का साधन माना, किन्तु यह सब राग तो संसार का कारण है; राग आत्मा की मुक्ति का कारण नहीं है। ऐसा समझकर क्या करना ? नवतत्त्वों को और आत्मा के अभेदस्वभाव को जानकर आत्मस्वभावोन्मुख होना, उसी का आश्रय करना, सो धर्म है और वही कल्याण है।

जो जीव विषय-कषायों में ही डूबा हुआ है और तत्त्व के विचार का भी अवकाश नहीं लेता, वह तो पाप में पड़ा है, उसकी यहाँ बात नहीं है। किन्तु, मुझे आत्मा का कल्याण करना है –

ऐसी जिज्ञासा जिसे जागृत हुई है, विषय-कषायों से कुछ पीछे हटकर जो नवतत्त्वों का विचार करता है और अंतर में आत्मा का अनुभव करना चाहता है, उसकी यह बात है। नवतत्त्वों का विचार पाँच इन्द्रियों का विषय नहीं है, पाँच इन्द्रियों के अवलम्बन से नवतत्त्वों का निर्णय नहीं होता, इसलिए नवतत्त्वों का विचार करनेवाला जीव पाँच इन्द्रियों के विषयों से विमुख हो गया है। अभी मन का अवलम्बन है, किन्तु वह जीव मन के अवलम्बन में नहीं रुकना चाहता, वह तो मन का भी अवलम्बन छोड़कर अभेद आत्मा का अनुभव करना चाहता है। स्वलक्ष से राग का अस्वीकार और स्वभाव का आदर करनेवाला जो भाव है, वह निमित्त और राग की अपेक्षा रहित भाव है, उसमें भेद के अवलम्बन की रुचि छोड़कर अभेदस्वभाव का अनुभव करने की रुचि का जो बल है, वह निश्चय सम्यग्दर्शन का कारण होता है।

कोई प्रश्न करे कि नव तत्त्वों के विचार तो पहले अनंतबार किये हैं ? तो उससे कहते हैं कि भाई, पहले जो नवतत्त्वों के विचार किये, उनकी अपेक्षा यह कुछ अन्य प्रकार की बात है। पहले नवतत्त्व के विचार किये, वे अभेदस्वरूप के लक्ष बिना किये हैं और यहाँ तो अभेदस्वरूप के लक्षसहित बात है। पहले मात्र मन के स्थूल विषयों से नवतत्त्वों के विचाररूप आंगन तक जो आत्मा अनंत बार आया है, किन्तु यहाँ से आगे विकल्प तोड़कर ध्रुव चैतन्य में एकत्व करने की अपूर्व समझ क्या है, वह नहीं समझा; इसलिए भवभ्रमण बना रहा, किन्तु यहाँ तो ऐसी बात नहीं ली है। यहाँ तो अपूर्व शैली से कथन है कि आत्मा का अनुभव करने के लिए जो नवतत्त्वों के विचार तक आया है, वह नवतत्त्वों का विकल्प तोड़कर अभेद आत्मा का अनुभव करता ही है। नवतत्त्वों के विचार तक आकर लौट आये – ऐसी बात यहाँ है ही नहीं।

निश्चय के अनुभव में तो नवतत्त्व आदि व्यवहार अभूतार्थ है, परन्तु निश्चय का अनुभव प्रगट करने की पात्रतावाले जीव को ऐसा ही व्यवहार होता है, इससे विरुद्ध दूसरा व्यवहार नहीं होता। व्यवहार को सर्वथा अभूतार्थ मानकर उसमें गड़बड़ करे और तत्त्व का निर्णय न करे तो वह तो अभी परमार्थ के आंगन में भी नहीं आया। कुतत्त्वों की मान्यता परमार्थ का आंगन नहीं है किन्तु सच्चे तत्त्वों की मान्यता परमार्थ का आंगन है। जैसे किसी को ब्राह्मण के घर में जाना हो और भंगी के आंगन में जाकर खड़ा हो जाये तो वह ब्राह्मण के घर में प्रवेश नहीं कर सकता, किन्तु यदि

ब्राह्मण के ही आंगन में खड़ा हो तो ब्राह्मण के घर में प्रवेश कर सकता है। उसीप्राकर सर्वज्ञ प्रभु के कहे हुए चैतन्यमूर्ति भगवान आत्मा का अनुभव करने के लिए सर्वज्ञकथित इन नवतत्त्व आदि का निर्णय करना, सो प्रथम अनुभव का आंगन है, उसका जो निर्णय नहीं करते और कुतत्त्वों को मानते हैं, वे तो अभी सर्वज्ञभगवानकथित आत्मस्वभाव के अनुभव के आंगन में भी नहीं आये हैं, उनका अनुभवरूपी घर में प्रवेश तो कहाँ से होगा ? प्रथम रागमिश्रित विचार से नवतत्त्व आदि का निर्णय करने के पश्चात् अभेद ज्ञायकस्वभाव की ओर उन्मुख होकर अनुभव करने से वे समस्त भेद अभूतार्थ हैं।

सच्चे नवतत्त्वों की पहिचान में सुदेव-गुरु-शास्त्र की और कुदेवादि की पहिचान भी आ जाती है। आस्रव और बंधतत्त्व की पहिचान में कुदेवादि की पहिचान आ जाती है। नवतत्त्वों के स्वरूप को विपरीतरूप से बतलायें, वे सब कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र हैं। संवर और निर्जराभाव, सो निर्मल दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग है, साधक भाव है। आचार्य, उपाध्याय और साधु - वे गुरु हैं, उनका तथा ज्ञानी धर्मात्माओं का स्वरूप संवर-निर्जरा में आ जाता है। मोक्ष आत्मा की पूर्ण निर्मलदशा है, अरहंत और सिद्ध परमात्मा सर्वज्ञ वीतरागदेव हैं, उनका स्वरूप मोक्षतत्त्व में आ जाता है। इसप्रकार नवतत्त्वों में पंचपरमेष्ठी आदि का स्वरूप भी आ जाता है। नवतत्त्वों में सम्पूर्ण विश्व के पदार्थ आ जाते हैं। नवतत्त्वों के अतिरिक्त दूसरा कोई तत्त्व जगत में नहीं है।

यहाँ कहा हुआ व्यवहार सम्यग्दर्शन का आंगन है। कुदेवादि के आंगन में खड़ा हो, वह तो अंतर में आत्मा के घर में प्रवेश नहीं कर सकता। आत्मा के घर में प्रवेश करनेवाले को नवतत्त्व की श्रद्धारूप आंगन बीच में आता है। जिसप्रकार भंगी के आंगन में खड़ा हुआ व्यक्ति ब्राह्मण के घर में प्रवेश नहीं कर सकता किन्तु ब्राह्मण के आँगन में खड़ा हुआ ही ब्राह्मण के घर में प्रविष्ट हो सकता है। उसीप्रकार आत्मा के अनुभव में जाने के लिए नवतत्त्वरूप आंगन समझना।

यहाँ आचार्यदेव ने परमार्थ आत्मा के अनुभव के निमित्तरूप से नवतत्त्वों के विकल्परूप व्यवहार का वर्णन किया है। यह व्यवहार-निमित्त अपनी पर्याय ही है। अनुभव से पूर्व बीच में ऐसी पर्याय हुए बिना नहीं रहती और सम्यग्दर्शन के निमित्तरूप से जो पंचेन्द्रियपना, देव-गुरु-शास्त्र आदि का वर्णन आता है, वे तो बाह्य संयोगरूप निमित्त हैं, वे तो स्वयं होते हैं, उनमें जीव का वर्तमान प्रयत्न नहीं है और यह नवतत्त्वों की श्रद्धारूप व्यवहार तो अपने वर्तमान प्रयत्न से होता है,

इसलिए इस अध्यात्मग्रंथ में सम्यग्दर्शन के निमित्तरूप से उसी की बात ली है। इस समयसार में अत्यन्त गूढ़ता भरी है।

अब, नवतत्त्वों को जानकर परमार्थ सम्यग्दर्शन प्रगट करने के लिए क्या करना चाहिए, उस संबंध में आचार्यदेव विशेष स्पष्टीकरण करते हैं, प्रथम तो सामान्यरूप से बात की, अब वह बात विशेषरूप से समझाते हैं –

'बाह्य दृष्टि से देखा जाये तो जीव-पुद्गलादि की अनादि बंधपर्याय के समीप जाकर एकरूप से अनुभव करने पर यह नवतत्त्व भूतार्थ हैं, सत्यार्थ हैं और एक जीवद्रव्य के स्वभाव के निकट जाकर अनुभव करने से वे अभूतार्थ हैं, असत्यार्थ हैं (जीव के एकाकार स्वरूप में वे नहीं हैं) इसलिए इन नवतत्त्वों में भूतार्थनय से एक जीव ही प्रकाशमान है।' अज्ञानी को नवतत्त्वों में जीव और अजीव एक होकर परिणमित होते हैं – ऐसा स्थूल दृष्टि से लगता है, किन्तु ज्ञानी तो नवों तत्त्वों में जीव और अजीव का पृथक्-पृथक् परिणमन है – ऐसा जानते हैं। ज्ञानी अंतरदृष्टि से जीव-अजीव को पृथक्-पृथक् परिणमित होता हुआ देखते हैं – यह बात फिर लेंगे।

जिसे जीव-अजीव का भेदज्ञान नहीं है, ऐसा अज्ञानी जीव नवतत्त्वों के विकल्प से जीव-पुद्गल की बंधपर्याय के निकट जानकर अनुभव करता है, अखण्ड चिदानन्द चैतन्य की एकता को चूककर बाह्य संयोग को देखता है, बाह्य लक्ष से आत्मा और कर्म की अवस्था का एकरूप अनुभव करने से तो नवतत्त्व भूतार्थ हैं-विद्यमान हैं, व्यवहारनय से देखने पर पर्याय में नवतत्त्वों के विकल्प होते हैं, किन्तु जिसे मात्र नवतत्त्वों का भूतार्थपना ही भासित होता है और एकरूप चैतन्यस्वभाव का भूतार्थपना भासित नहीं होता, वह मिथ्यादृष्टि है। जीव-पुद्गल के संबंध का लक्ष छोड़कर, मात्र शुद्ध जीवतत्त्व को ही लक्ष में लेकर अनुभव करने से मात्र भगवान आत्मा ही शुद्ध जीवरूप से प्रकाशमान है और नवतत्त्व अभूतार्थ हैं, ऐसा अनुभव करना, सो सम्यग्दर्शन है। अभेद आत्मा की श्रद्धा करने से पूर्व अर्थात् धर्म की प्रथम दशा होने से पूर्व जिज्ञासु जीव को नवतत्त्वों का ज्ञान निमित्तरूप से होता है। नवतत्त्व सर्वथा हैं ही नहीं – ऐसा नहीं है।

आत्मा और कर्म के संबंध से होनेवाले नवतत्त्वों की दृष्टि छोड़कर मात्र ज्ञायक की दृष्टि से स्वभावसन्मुख जाकर अनुभव करना, सो सम्यग्दर्शन है। जिसप्रकार अकेले पानी के प्रवाह में भंग

नहीं पड़ता, किन्तु बीच में नाले के निमित्त से उसके प्रवाह में भंग पड़ता है, उसीप्रकार यदि कर्म के साथ के संबंध के लक्ष से जीव का विचार किया जाये तो नवतत्त्वों के भेद विचार में आते हैं, किन्तु उस निमित्त का लक्ष छोड़कर मात्र चैतन्यस्वभाव को ही दृष्टि में लिया जाये तो उसमें भंग-भेद नहीं पड़ते, वह एक ही प्रकार का अनुभव में आता है।

और जिसप्रकार अकेले पानी में मीठा, खट्टा या खारा - ऐसे भेद नहीं पड़ते, मीठा, खट्टा या खारा - ऐसे जो भेद पड़ते हैं, वे तो शक्कर, निंबू अथवा नमक आदि परनिमित्त के संग की अपेक्षा से होते हैं, निमित्त के संग की अपेक्षा से देखने पर पानी में वे भेद भूतार्थ हैं, किन्तु अकेले पानी के स्वभाव को देखने से उसमें मीठा, खट्टा या खारा ऐसे भेद नहीं पड़ते, इसलिए वे भेद अभूतार्थ हैं। उसीप्रकार आत्मा में मात्र स्वभाव की दृष्टि से देखने पर उसमें भेद नहीं है, किन्तु जड़कर्म के संयोग की अपेक्षा से देखने पर आत्मा की पर्याय में बंध, मोक्ष आदि सात प्रकार होते हैं, पर्यायदृष्टि से वे भेद भूतार्थ हैं। और यदि मात्र आत्मा के त्रिकाली स्वभाव की दृष्टि से अनुभव किया जाये तो उसमें बंध, मोक्ष आदि सात प्रकार नहीं हैं, इसलिए वह अभूतार्थ है। इसलिए स्वभावदृष्टि से तो नवतत्त्वों में एक भूतार्थ जीव ही प्रकाशमान है, उसमें एक अभेद जीव का अनुभव है और वही परमार्थ सम्यग्दर्शन का विषय है। ऐसा समझे बिना अनंतकाल में जो कुछ किया उससे परिभ्रमण ही हुआ है, एक भव भी कम नहीं हुआ। यह अपूर्व प्रतीति करना ही भवभ्रमण से बचने का उपाय है।

नवतत्त्व कहाँ रहते हैं ? जीव और अजीव तो स्वतंत्र तत्त्व है और उनके संबंध से सात तत्त्व होते हैं, उनमें जीव के सात तत्त्व जीव की अवस्था में रहते हैं और अजीव के सात तत्त्व अजीव की अवस्था में रहते हैं। किन्तु अज्ञानी को उन दोनों की भिन्नता का भान नहीं है, इसलिए मानो जीव और अजीव दोनों एकमेक होकर परिणमित होते हों, ऐसा उसे लगता है। अज्ञानी भिन्न अखण्ड चैतन्यतत्त्व को चूककर जड़ और चेतन को एक मानता है और इसी से पर्यायबुद्धि में वह अनादि से नवतत्त्वों का ही भूतार्थरूप से अनुभव कर रहा है, किन्तु स्वभावोन्मुख होकर एकरूप स्वभाव का अनुभव नहीं करता। मुक्तस्वभाव की दृष्टि से तो आत्मा एकरूप है, उसमें नवतत्त्व नहीं हैं, किन्तु बाह्य संयोगी दृष्टि से-वर्तमान दृष्टि से-व्यवहारदृष्टि से देखा जाये तो नवतत्त्व भूतार्थ दिखलाई देते हैं और यदि वर्तमान पर्याय को स्वभाव में एकाग्र करके वर्तमान में स्वभाव को देखें तो नवतत्त्व अभूतार्थ हैं और अकेला ज्ञायक आत्मा ही अनुभव में आता है।

आचार्य भगवान कहते हैं कि अखण्ड ज्ञायक वस्तु की दृष्टि से तो आत्मा में एकत्व ही है और उसके आश्रय से एकत्व की ही उत्पत्ति होती है। यद्यपि पर्याय में निर्मलता के प्रकार होते हैं, किन्तु वह पर्याय अभेद आत्मा में ही एकाग्र होती है, इसलिए अभेद आत्मा का ही अनुभव है।

अज्ञानी के जड़-चेतन की एकत्वबुद्धि से अनादि से नवतत्त्वों पर ही दृष्टि है, जड़ के संग से भिन्न अकेले चैतन्यतत्त्व की उसे खबर नहीं है। अहो, मुझमें अनंत गुण होने पर भी मैं अभेद स्वभावी एक वस्तु हूँ। ज्ञायकस्वरूप हूँ – ऐसा अनुभव करना, सो परमार्थ सम्यग्दर्शन है। अभेद आत्मा के अनुभव में 'मैं ज्ञान हूँ' – ऐसे गुणभेद के विकल्प का भी अवकाश नहीं है, तब फिर नवतत्त्व के विकल्प तो कहाँ से होंगे ? अभी जो नवतत्त्वों को भी नहीं मानता, उसे तो व्यवहार धर्म भी नहीं होता और पर संयोग के निकट जाकर नवतत्त्वों का भूतार्थरूप से अनुभव करना अर्थात् एक जीव का नवतत्त्वरूप से अनुभव करना, वह भी अभी सम्यग्दर्शन नहीं है। सम्यग्दर्शन किसप्रकार है, वह अब कहते हैं –

अंतर में चैतन्यस्वभाव के निकट जाकर अनुभव करने से वे नवतत्त्व अभूतार्थ हैं और एक परम पारिणामिक ज्ञायक आत्मा ही 'भूतार्थरूप से' अनुभव में आता है, ऐसा अनुभव करना ही सम्यग्दर्शन है। अभेदस्वभाव की प्रधानता से आत्मा का अनुभव करने से वह ज्ञायकमूर्ति भगवान तो एक ही है, एकत्व छोड़कर वह नव प्रकाररूप नहीं हुआ है।

अहो ! इतनी अच्छी बात ! पात्र होकर समझे तो निहाल हो सकता है। प्रथम सत्समागम से यह बात सुने और तत्पश्चात् उसका अंतर में विचार करके निर्णय करे, तो उसका अनुभव हो। जहाँ चैतन्य के ओर की मुख्यता हुई, वहाँ अभेद चैतन्य की दृष्टि में रहता है, नव भेदों का विकल्प आये, उसकी मुख्यता नहीं है, इसलिए वह अभूतार्थ है। मैं जीव, चैतन्य परिपूर्ण हूँ-एकरूप हूँ, ऐसे स्वभाव की दृष्टि में एकता की ही मुख्यता है और उसमें नवतत्त्वों की अनेकता गौण हो जाती है, इसलिए शुद्धनय में नवतत्त्व अभूतार्थ हैं। आत्मा के अभेद स्वभाव की दृष्टि छोड़कर पर्याय में परसंग की अपेक्षा से देखने पर नवतत्त्व भूतार्थ हैं, किन्तु जहाँ शुद्धनय से भेद का लक्ष छूटकर अभेद स्वभाव की मुख्यता में ढला, वहाँ भेदरूप नवतत्त्वों का अनुभव नहीं है, इसलिए वे अभूतार्थ हैं और एक शुद्ध आत्मा ही भूतार्थरूप से प्रकाशमान है। ऐसे शुद्धात्मा का अनुभव होने से

सम्यग्दर्शन प्रगट हुआ, उस सम्यग्दर्शन के पश्चात् धर्मी को नवतत्त्व के विकल्प आते हैं किन्तु उनकी शुद्ध दृष्टि में उन विकल्पों की मुख्यता नहीं है-एकाकार चैतन्य की ही मुख्यता है, इसलिए वे नवतत्त्व अभूतार्थ हैं। 'अभूतार्थ' कहने से उन नवतत्त्वों के विकल्प अभेद स्वभाव की दृष्टि में उत्पन्न ही नहीं होते।

देखो तो, भगवान आत्मा की कैसी अच्छी बात है ! यह कोई बाहर की बात नहीं है किन्तु अंतर में अपने आत्मा की ही बात है। भाई, तुझे सुख और शांति चाहिए है न ! तो तू कहाँ उनकी शोध करेगा ? कहीं बाह्य में देव-गुरु-शास्त्र अथवा स्त्री, लक्ष्मी, शरीर आदि में सुख-शांति ढूँढने से वह नहीं मिल सकते। तुझे सुख-शांति चाहिए हो, सम्यग्दर्शन चाहिए हो, सत्य चाहिए हो, आत्मसाक्षात्कार की आवश्यकता हो तो नित्यस्थायी चिदानंदस्वभाव में ही उन्हें देख, अंतरस्वभाव में ढूँढने से ही वे मिल सकते हैं। सत्समागम से नवतत्त्वों को जानकर अंतरंग में भूतार्थ चैतन्यस्वभाव के निकट जाकर अनुभव करने से सम्यग्दर्शन, सुख-शांति, सत्य और आत्म साक्षात्कार होता है।

नवतत्त्वों में पहला जीवतत्त्व कितना ? सिद्ध भगवान के आत्मा जितना। जितना सिद्ध भगवान का आत्मा है, उतना ही प्रत्येक आत्मा परिपूर्ण है। 'सिद्ध समान सदा पद मेरो' - मेरा आत्मस्वरूप सदैव सिद्ध समान है। ऐसा आत्मा सम्यग्दर्शन का विषय है अर्थात् सम्यग्दर्शन अपने आत्मा को वैसा स्वीकार करता है। सम्यग्दर्शन होने से अपने सिद्ध समान आत्मा का संवेदन होता है - अनुभव होता है। सम्यग्दर्शन का विषय अकेला आत्मा है, नवतत्त्व के भेद सम्यग्दर्शन का विषय है ही नहीं। नवतत्त्व तो सम्यग्दर्शन का बारदान है। बारदान पर से माल का अनुमान होता है कि इसे कैसा माल लेना है। जिसप्रकार कोई फटा-टूटा काला बोरा लेकर बाजार में जा रहा हो तो अनुमान होता है कि यह मनुष्य केशर लेने के लिए नहीं जा रहा है। किन्तु कोयला लेने जा रहा होगा और कोई सुन्दर काँच की बरणी लेकर बाजार में जा रहा हो तो अनुमान होता है कि यह अनाज अथवा कोयला लेने नहीं जा रहा है किन्तु केशर आदि कोई महँगी वस्तु लेने जाता है। उसीप्रकार जो जीव कुदेव-कुगुरुओं का पोषण कर रहा है अर्थात् जिसके बारदानरूप से ही कुगुरु-कुदेव हैं, तो अनुमान होता है कि वह जीव आत्मा का धर्म लेने नहीं निकला, किन्तु विषय-कषाय की पुष्टि करने निकला है। जिसके पास नवतत्त्वों की श्रद्धारूप बारदान नहीं है तो ऐसा समझना कि वह जीव

आत्मा की श्रद्धारूपी माल लेने नहीं निकला है किन्तु संसार में परिभ्रमण करने का माल लेने निकला है। जो जीव शुद्ध आत्मा की श्रद्धारूपी माल लेने निकला हो, उसके पास सच्चे देव-गुरु-शास्त्र के कहे हुए नवतत्त्वों की श्रद्धा ही बारदानरूप से होती है। प्रथम नवतत्त्वों को स्वीकार करने के पश्चात् उनके भेद का लक्ष छोड़कर शुद्धनय के अवलम्बन द्वारा अभेद आत्मा का अनुभव करने से धर्म प्रगट होता है। किन्तु जो कुतत्त्वों को मानता है और जिसे नवतत्त्वों का भान नहीं है, उसमें तो चैतन्य का अनुभव होने की योग्यता ही नहीं है। शरीर की क्रिया से या पूजा-दया आदि से जो धर्म मनाए, वह सन का बोरा लेकर माल लेने निकला है, उस बोरे में सम्यग्दर्शनरूपी माल नहीं रह सकता। अभी तो जो ऐसा मानता है कि जीव और शरीर एकत्रित होकर बोलने आदि का काम करते हैं, उसने व्यवहार नवतत्त्वों को भी नहीं जाना है, उसे तो यथार्थ पुण्यप्राप्ति भी नहीं होती और नवतत्त्वों को मानकर वहीं रुका रहे तो वह भी मात्र पुण्यबंध में रुका रहता है, उसे धर्म की प्राप्ति नहीं होती। नवतत्त्वों को मानने के पश्चात् अभेद एक चैतन्यस्वभाव के निकट जाकर अनुभव करे, उसे अपूर्व धर्म प्रगट होता है।

यहाँ तो, जो नवतत्त्वों की व्यवहारश्रद्धा तक आया है - ऐसे शिष्य को परमार्थसम्यग्दर्शन कराने के लिए श्री आचार्यदेव कहते हैं कि तू चैतन्यज्योति वस्तुस्वभाव की अंतर दृष्टि कर। एकरूप चैतन्य की दृष्टि में नवतत्त्व के भंगभेद का विकल्प उपस्थित नहीं होता, किन्तु एक शुद्ध चैतन्य आत्मा ही अनुभव में आता है, उसका नाम सम्यग्दर्शन है, उसी का नाम आत्म साक्षात्कार है और वही धर्म की प्रथम भूमिका है।

अभेद स्वभाव की दृष्टि से देखने पर नवतत्त्व दिखलाई नहीं देते, किन्तु एक आत्मा ही शुद्धरूप से दिखाई देता है, इसलिए भूतार्थनय से देखने पर नवतत्त्वों में एक शुद्ध जीव ही प्रकाशमान है और यही सम्यग्दर्शन का ध्येय है। व्यवहारदृष्टि में नवतत्त्व हैं, किन्तु स्वभावदृष्टि में नवतत्त्व नहीं हैं। स्वभावदृष्टि से ऐसा अनुभव करना ही धर्म है।

'जो आत्मा को शुद्ध जानता है उसे शुद्धात्मा की प्राप्ति होती है'

(वीर सं. 2475 : ज्येष्ठ कृष्णा 14 के दिन लाठी में श्री प्रवचनसार गाथा 194 पर पूज्य श्री कानजी स्वामी का **प्रवचन**)

15. शुद्धात्मा को जाने, उसे शुद्धता प्रगट होती है

'इस यथोक्त विधि द्वारा जो शुद्धात्मा को ध्रुव जानता है, उसे उसी में प्रवृत्ति द्वारा शुद्धात्मत्व होता है।' आत्मा में श्रेय कैसे हो और अश्रेय किसप्रकार दूर हो, उसकी यह बात है। श्रेय-अच्छा करना कहो अथवा सुख, धर्म, कल्याण - यह सब एक ही है। जीव अज्ञानभाव से अध्रुव ऐसे विकार को तथा संयोगों को अपना स्वरूप मानता था, वह अधर्म था। अब, परद्रव्य का आलंबन अशुद्धता का कारण है और स्वद्रव्य का आलंबन शुद्धता का कारण है - ऐसी पूर्वकथित विधि द्वारा शुद्धात्मा को जाना, वह धर्म है। मूल सूत्र में 'जो एवं जाणित्ता' ऐसा कहा है, उसमें से श्री अमृतचंद्राचार्यदेव ने टीका में यह रहस्य खोला है।

मुझमें परवस्तु का अभाव है और राग-द्वेष भी मेरे कल्याण का कारण नहीं है, वे सब अध्रुव पदार्थ हैं, वे मुझे शरणरूप नहीं हैं, मेरा उपयोगस्वरूप आत्मा ध्रुव है, वही मुझे शरणरूप है, इसप्रकार जो अपने शुद्ध आत्मा को जानता है, उसे उसके आश्रय से शुद्धता प्रगट होती है। पहले मलिन भावों को अपना स्वरूप मानता था, तब शुद्धता प्रगट नहीं होती थी; अब वह मान्यता बदल कर शुद्ध आत्मा को जाना, इसलिए शुद्धता प्रगट हुई।

16. यह बात किसे समझाते हैं ?

पहले अनादि से आत्मा को अशुद्ध मानता था, वह मिथ्या मान्यता सर्वथा असत् (सर्वथा

अभावरूप) नहीं है, किन्तु अज्ञानी की अवस्था में वह मिथ्या मान्यता होती है, वह एक समय पर्यंत सत् (भावरूप) है। यदि विपरीत मान्यता आत्मा में सर्वथा होती ही न हो तो शुद्धात्मा को समझकर उसे दूर करना भी नहीं रहता, इसलिए आत्मा को समझने का उपदेश देना भी नहीं रहता। अनादि से आत्मा को क्षणिक विकार जितना माना है, वह मिथ्या मान्यता छुड़ाने के लिए श्री आचार्यदेव समझाते हैं कि आत्मा का स्वभाव त्रिकाल शुद्ध उपयोगस्वरूप ध्रुव है, उसकी श्रद्धा करो !

17. 'राग के समय शुद्ध आत्मा के श्रद्धा-ज्ञान कैसे हो सकते हैं' श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र का भिन्न-भिन्न कार्य

प्रश्न - आत्मा में राग-द्वेष होते हैं, तथापि वे राग-द्वेष मैं नहीं हूँ - ऐसी मान्यता उसी क्षण कैसे हो सकती है ? राग-द्वेष के समय ही राग-द्वेषरहित ज्ञानस्वभाव की श्रद्धा कैसे हो सकती है ?

उत्तर - राग-द्वेष होते दिखलाई देते हैं, वह तो पर्यायदृष्टि है, उसी समय यदि पर्यायदृष्टि गौण करके स्वभाव की दृष्टि से देखा जाये तो आत्मा का स्वभाव रागरहित ही है, उसकी श्रद्धा और अनुभव होता है। राग होने पर भी शुद्ध आत्मा उस राग से रहित है, इसप्रकार ज्ञान द्वारा शुद्ध आत्मा ज्ञात होता है। आत्मा में एक ही गुण नहीं है, किन्तु श्रद्धा-ज्ञान-चारित्रादि अनंत गुण हैं। राग-द्वेष होते हैं, वह चारित्रगुण की विकारी परिणमन है और शुद्धात्मा को मानना, वह श्रद्धागुण का निर्मल परिणमन है तथा शुद्धात्मा को जानना, सो ज्ञानगुण का निर्मल परिणमन है। इसप्रकार प्रत्येक गुण का परिणमन भिन्न-भिन्न कार्य करता है। चारित्र के परिणमन में विकारदशा होने पर भी, श्रद्धाज्ञान उस ओर उन्मुख न होकर त्रिकाली शुद्ध स्वभाव की ओर उन्मुख हुए, श्रद्धा की पर्याय ने विकाररहित पूर्ण शुद्ध आत्मा की ओर उन्मुख होकर उसे माना और ज्ञान की पर्याय भी चारित्र के विकार का अस्वीकार करके स्वभावोन्मुख हुई है, इसलिए उसने भी विकाररहित शुद्ध आत्मा को जाना है। इसप्रकार, चारित्र की पर्याय में राग-द्वेष होने पर भी श्रद्धा-ज्ञान स्वोन्मुख होने से शुद्ध आत्मा की श्रद्धा और ज्ञान होते हैं। राग के समय यदि रागरहित शुद्ध आत्मा का भान न हो सके तो किसी भी जीव को चौथा, पाँचवाँ, छठवाँ गुणस्थान अथवा साधक दशा ही प्रगट नहीं हो सकती और साधकभाव के बिना मोक्ष का भी अभाव सिद्ध होगा।

राग-द्वेष चारित्रगुण की अवस्था है। यदि आत्मा में चारित्र के अतिरिक्त दूसरे ज्ञानादि अनंत गुण न हों तो धर्म नहीं हो सकता, क्योंकि जो चारित्र स्वयं विकार में रुका हो, वह स्वयं

विकाररहित स्वभाव का निर्णय कैसे कर सकता है ? और उस निर्णय के बिना धर्म कहाँ से होगा ? इसलिए चारित्र के अतिरिक्त दूसरे ज्ञान, श्रद्धा आदि गुण हैं, इससे चारित्र की दशा में विकार होने पर भी उसी समय ज्ञानगुण के कार्य द्वारा शुद्ध आत्मा का ज्ञान होता है तथा श्रद्धा-गुण के कार्य द्वारा शुद्धात्मा की श्रद्धा होती है और उस शुद्धात्मा की श्रद्धा-ज्ञान के बल से स्वभावसन्मुख परिणमित होने से चारित्र के विकार का भी क्रमशः नाश हो जाता है। सम्यक्श्रद्धा -ज्ञान होने पर उसे साथ चारित्र भी अंशतः शुद्ध तो होता है। सम्यक्श्रद्धा-ज्ञान होने पर भी चारित्र सर्वथा अशुद्ध ही रहे - ऐसा नहीं हो सकता। चारित्र का वर्तन किंचित् विपरीत होने पर भी, उस समय श्रद्धा-ज्ञानगुण के स्वाश्रित परिणमन द्वारा विकाररहित आत्मा की श्रद्धा तथा ज्ञान होता है। इसलिए, यदि कोई जीव आत्मा में अनंतगुण न माने और एक ही गुण माने तो उसे साधकदशा हो नहीं सकती, वह तो विकार के समय विकार जितना ही आत्मा को मानेगा, किन्तु विकार के समय विकाररहित आत्मा के श्रद्धा-ज्ञान उसे नहीं हो सकते, क्योंकि उन गुणों को ही उसने स्वीकार नहीं किया। अवस्था में राग-द्वेषरूप जो क्षणिक मलिनता है, वह ज्ञान के अतिरिक्त अन्य गुण की है, ज्ञान की मलिनता नहीं है। इसलिए उस मलिनता से पृथक् रहकर ज्ञान ने स्वभावोन्मुख होकर आत्मा के निर्मल गुणों को जाना, इसलिए उनके आश्रय से साधकदशा प्रारम्भ हो गई। वह जीव अपने को क्षणिक राग-द्वेष जितना ही नहीं मान लेता।

आत्मा की वर्तमान पर्याय में रागादि मलिनता है, वह चारित्रगुण की विपरीत दशा है। वहाँ उसे ही अज्ञानी पूर्ण आत्मा मानता था, इसलिए मिथ्या श्रद्धा-ज्ञान थे। अब, वह मिथ्या मान्यता बदलकर श्रद्धा-ज्ञान स्वसन्मुख होने से ऐसा माना कि त्रिकाल ध्रुव चैतन्य ही मैं हूँ, मेरे त्रिकाली स्वभाव में मलिनता नहीं है, अवस्था में जो क्षणिक-अल्प मलिनता है, उतना पूर्ण आत्मा नहीं है। स्वभावोन्मुख हुए स्व-पर प्रकाशक ज्ञान ने उस मलिनता को ज्ञेयरूप से जाना कि वह चारित्र का दोष है, किन्तु मेरा मूल स्वभाव नहीं है। उस दोष के समय भी दूसरे ज्ञान-श्रद्धान गुण द्वारा ध्रुव शुद्ध नित्य आत्मा का ज्ञान-श्रद्धान होता है, इसलिए विकार के समय भी शुद्ध आत्मा के सम्यक् श्रद्धान-ज्ञान में धर्मी जीव को शंका नहीं पड़ती। यदि प्रत्येक आत्मा में श्रद्धा-ज्ञान-चारित्रादि अनेक गुणों को (अनेकान्त स्वभाव को) न माना जाये तो साधकपना ही सिद्ध नहीं हो सकता और साधकपने के बिना बाधकपना भी सिद्ध नहीं हो सकता, इसलिए संसार-मोक्ष का ही अभाव सिद्ध होगा। किन्तु यह बात प्रत्यक्ष विरुद्ध है।

और यदि सम्यक्श्रद्धा-ज्ञान होने से उनके साथ ही पूर्ण चारित्र प्रगट हो जाता हो और वर्तन का किंचित् दोष नहीं रहता हो तो साधकपने के प्रकार की नहीं पड़ेंगे, किन्तु सम्यक्श्रद्धा के साथ ही सभी जीवों को वीतरागता हो जायेगी, इसलिए कथंचित् गुण-भेदरूप जो वस्तुस्वरूप है, वह सिद्ध नहीं होगा, इसलिए वह भी विरुद्ध है।

आत्मवस्तु में श्रद्धा-ज्ञान-चारित्रादि अनेक गुण हैं और गुणों की अपेक्षा से उन प्रत्येक का कार्य भिन्न-भिन्न है, इसप्रकार यथार्थ अनेकान्त को समझे तभी वस्तुस्वरूप की सिद्धि हो।

18. कल्याण कैसे हो ?

जीव की अवस्था में अकल्याण है, उसे दूर करके कल्याण प्रगट करता है। अवस्था में जो अकल्याण है, वह दूर होकर कल्याण कहाँ से प्रगट होगा ? अवस्था में अकल्याण होने पर भी, जिसमें से कल्याण प्रगट होता है, ऐसी ध्रुव वस्तु की श्रद्धा करने से उसके आधार से कल्याण प्रगट होता जाता है। ध्रुव वस्तु की श्रद्धा हुई, वहाँ अंशतः कल्याण प्रगट हुआ है और अभी अंशतः अकल्याण भी है। यदि सम्पूर्ण कल्याण हो जाये तो अकल्याण बाकी न रहे। राग-द्वेष अकल्याण है और वीतरागभाव कल्याण है। अवस्था में अंशतः अकल्याण (राग-द्वेष) होने पर भी शुद्ध आत्मा का विवेक होता है और सम्यक् श्रद्धा-ज्ञानरूप कल्याण प्रगट होता है। इसलिए श्री आचार्यदेव ने प्रथम शुद्ध आत्मा को जानने की बात रखी है। शुद्धात्मा को जानने के साथ ही पूर्ण वर्तन (वीतरागता) नहीं हो जाता, किन्तु उसमें क्रम पड़ते हैं। यदि सम्यक्श्रद्धा-ज्ञान होने के साथ ही चारित्र पूर्ण हो जाता हो तो साधकदशा नहीं रहेगी।

19. प्रत्येक जीव की स्वतंत्रता और देव-गुरु-शास्त्र आदि की सिद्धि

'जो शुद्धात्मा को ध्रुव जानता है, उसे शुद्धात्मतत्त्व होता है' ऐसा कहा, इसलिए यदि सभी जीव शुद्धात्मा को जानें, तभी अपने को शुद्धात्मा ज्ञात हो - ऐसा नहीं है, किन्तु सभी जीवों से स्वयं स्वतंत्र है। सभी आत्मा भिन्न-भिन्न स्वतंत्र हैं, उनमें से जो शुद्धात्मा को जाने, उसी को शुद्धात्मदशा प्रगट होती है और जो शुद्धात्मा को नहीं जानता, उसे शुद्धात्मदशा नहीं होती। इसमें परिणमन भी निश्चित हो गया, क्योंकि अनादि से शुद्ध आत्मा को नहीं जाना था, वह अज्ञानदशा पलटकर अब शुद्धात्मा को जाना। यदि अवस्था बदलती न हो तो ऐसा नहीं हो सकता। इसप्रकार शुद्ध आत्मा को जानकर उसमें लीनता से जो पूर्ण शुद्ध हो गये, वे 'देव हैं', शुद्धात्मा को जान लिया है, तथापि जिनके

अभी पूर्ण शुद्धदशा प्रगट नहीं हुई किन्तु साधकदशा है, वे 'गुरु' हैं और ऐसे देव-गुरु की अनेकान्तमय वाणी, सो 'शास्त्र' है। शुद्ध आत्मा को जाने, उसी समय आत्मा पूर्ण शुद्ध सर्वज्ञ नहीं हो जाता, किन्तु अभी विशेषरूप से स्वभावोन्मुख होना और अशुद्धता को दूर करना-साधकपना रहता है, इसलिए ज्ञान के और गुणस्थान के भेद पड़ते हैं। इस रीति से अनेकप्रकार सिद्धि हो जाती है।

20. सम्यक्श्रद्धा-ज्ञान का कार्य

आत्मा में श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र आदि अनेक गुण त्रिकाल हैं, उन्हें यदि न माना जाये तो यह बात सिद्ध नहीं हो सकेगी। चारित्र की दशा में विकार होने पर भी श्रद्धा-ज्ञान ने उसका लक्ष छोड़कर जब शुद्ध आत्मस्वभाव का स्वीकार किया, तब से अपूर्व धर्मकाल का प्रारम्भ हुआ है। वर्तन की क्षणिक मलिनता को सम्यक्श्रद्धा स्वीकार नहीं करती, किन्तु ध्रुव शुद्ध द्रव्य को ही वह स्वीकार करती है और उस ध्रुव के आधार से वर्तन की पूर्णता होकर मैं सर्वज्ञ हो जाऊँगा - ऐसा ज्ञान जानता है।

21. सम्यक्श्रद्धा-ज्ञानरूप धर्म और सम्यक्चारित्ररूप धर्म : प्रथम कितना और अधर्म दूर होता है ?

आत्मा का जो शुद्ध ध्रुवस्वभाव है, वह तो नित्य है, उस स्थायी पदार्थ को कहीं नया नहीं बनाना है, किन्तु वर्तमान क्षणिक अवस्था में अधर्म है, उसे दूर करके धर्मदशा नवीन प्रगट करना है। सारा अधर्म एक ही साथ दूर नहीं हो जाता, किन्तु उसे दूर करने में क्रम पड़ता है। जो जीव धर्मी हो, उसके सर्वप्रथम कितने अंश में अधर्म दूर होता है ? प्रथम शुद्ध आत्मा को जानने से मिथ्याश्रद्धा और मिथ्याज्ञानरूप अधर्म तो दूर हो जाता है और चारित्र के अधर्म का एक अंश दूर हो जाता है, किन्तु चारित्र का सारा अधर्म दूर नहीं हो जाता। पहले सम्यक्श्रद्धा और सम्यक्ज्ञान रूप धर्म एक साथ प्रगट होता है और पश्चात् सम्यक्चारित्र होता है, वह चारित्रधर्म क्रमशः प्रगट होता है। 'मैं शुद्ध, ध्रुव उपयोगस्वरूप हूँ' - ऐसा जिस श्रद्धा-ज्ञान से जाना और माना, वह धर्म है और जो राग-द्वेष होता है, वह अधर्म है, इसप्रकार साधक को अंशतः धर्म और अंशतः अधर्म दोनों साथ में हैं। पहले शुद्ध आत्मा को नहीं जानता था और पुण्य-पाप को ही अपना स्वरूप मानता था, तब तो उस जीव के श्रद्धा-ज्ञान और वर्तन तीनों मिथ्या थे, इसलिए मात्र अधर्म ही था। उस अधर्मीपने में तो जीव विकार को और पर को ही ज्ञान में ज्ञेय करता था और उसी की श्रद्धा करता था, उसके बदले अब, ज्ञान को स्वोन्मुख करके आत्मा को ही ज्ञान का स्वज्ञेय किया और उसकी की श्रद्धा की, वहाँ

ज्ञान और श्रद्धा सुधर गये, तथापि अभी उस धर्मी को चारित्र में अंशत: विकार भी है, परन्तु वह विकार होने पर भी उसके सम्यक्श्रद्धा-ज्ञानरूप धर्म का नाश नहीं होता। इसप्रकार प्रथम तो मिथ्याश्रद्धा और मिथ्याज्ञानरूप अधर्म दूर होता है और पश्चात् राग-द्वेष दूर होते हैं।

अधर्मदशा के समय पुण्य-पाप को जानने में एकत्वबुद्धि से जो ज्ञान रुकता था, उसका कार्य धर्मदशा होने से बदल गया और अब वह ध्रुव चैतन्यस्वभाव को जानने में उसके आश्रय में रुका तथा पहले जो श्रद्धा पुण्य-पाप को ही आत्मा मानती थी, उसने अब ध्रुव चैतन्यस्वभाव की श्रद्धा की। इसप्रकार ज्ञान और श्रद्धा में धर्म की क्रिया हुई। अब मात्र चारित्र का अल्प दोष रहा, उसे भी शुद्ध स्वभाव में एकाग्रता द्वारा दूर करके परमात्मा हो जायेगा। किन्तु जिसके श्रद्धा-ज्ञान ही सच्चे नहीं हैं, उसके तो विकार कभी दूर होता ही नहीं है। प्रथम सम्यक्श्रद्धा-ज्ञान होने के पश्चात् ही चारित्रदोष दूर होकर परमात्मदशा होती है।

22. आत्मा का वर्तन कैसे सुधरे ?

लोग कहते हैं कि 'वर्तन सुधारो!' लेकिन वर्तन का अर्थ क्या ? देह की क्रिया में आत्मा का वर्तन नहीं है। वर्तन का अर्थ देह की क्रिया नहीं है किन्तु आत्मा के अंतर के भाव हैं। शुद्ध आत्मा को यथावत् समझकर उसमें एकाग्ररूप से वर्तना ही सच्चा वीतरागी वर्तन है और शुद्ध आत्मा को न समझकर विकार में ही एकाग्ररूप से वर्तना, सो विपरीत वर्तन है। जहाँ अपने पूर्ण शुद्ध चैतन्यस्वभाव को ही ज्ञान का ज्ञेय किया और उसकी श्रद्धा की, वहाँ ज्ञान और श्रद्धा का वर्तन तो सुधर गया अर्थात् ज्ञान और श्रद्धा सम्यक् हुए। चारित्र के वर्तन में अमुक विकार हो, तथापि उस विकारपरिणाम के समय भी श्रद्धाज्ञान को शुद्धस्वभावोन्मुख करके उसका वर्तन सुधारा जा सकता है, और ऐसा करने से ही धर्म का प्रारम्भ होता है। पर्याय में विकार होने पर भी उसी समय उस विकार को मुख्य न करके उस विकार से रहित ध्रुव चैतन्यस्वभाव को मुख्य करके उसमें श्रद्धा-ज्ञान का ढालना, उस विधि द्वारा ही शुद्धात्मा ज्ञात होता है और अपूर्व कल्याण का प्रारम्भ होता है।

आत्मा त्रिकाल है, उसमें श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र - यह तीन गुण मुख्य हैं, उसकी पर्याय में मलिनता है। अनादिकाल से पराश्रय के कारण विपरीत परिणमन था, वह स्वभाव के आश्रय से सम्यक् होता है। चारित्र में किंचित् विपरीतता होने पर भी श्रद्धा-ज्ञान शुद्धस्वभावोन्मुख होकर शुद्ध आत्मा को श्रद्धा-ज्ञान में लेते हैं, यही शुद्ध आत्मा को जानने की विधि है। इस विधि से जो शुद्धात्मा को जानता है, उसी को आत्मा की शुद्धता प्रगट होती है।

23. सच्ची सामायिक और प्रतिक्रमण किसके होते हैं ?

सामायिक का अर्थ है समता का लाभ होना। वह सामायिक कब होती है ? आत्मा के त्रिकालस्वभाव में ज्ञान आनंद है, ऐसे त्रिकाली स्वभाव को जानकर उसमें जो लीन हो, उसे आत्मा का आनंद प्रगट होता है और राग-द्वेष के अभावरूप वीतरागी समता होती है, वही सामायिक है। ऐसी ही सामायिक को भगवान ने धर्म और मोक्ष का कारण कहा है तथा वह जीव मिथ्यात्व अविरति पाप से विमुख हुआ। इसलिए उसे प्रतिक्रमण भी हो गया। ऐसी सच्ची सामायिक और सच्चा प्रतिक्रमण शुद्ध आत्मा की प्रतीति बिना किसी जीव को नहीं होता।

24. मोक्षार्थी को मोक्ष का उल्लास (बैल का दृष्टांत)

आत्मा ने अनंतकाल से एक क्षण भी अपने स्वभाव को लक्ष में नहीं लिया है, इसलिए उसे समझना कठिन मालूम होता है और शरीरादि बाह्य क्रिया में धर्म मानकर मनुष्यभव व्यर्थ गंवाते हैं। यदि आत्मस्वभाव की रुचि से अभ्यास करे तो उसे समझना सरल है, स्वभाव की बात महँगी नहीं होती। प्रत्येक आत्मा में समझने का सामर्थ्य है, किन्तु अपनी मुक्ति की बात सुनकर भीतर से उल्लास आना चाहिए, तो झट समझ में आ जाती है। जैसे - जब बैलों को घर से खेत में काम करने से जाते हैं, तब धीरे-धीरे चलते हैं और पहुँचने में देर लगाते हैं, लेकिन जब खेत पर काम करके शाम को घर लौटते हैं, उस समय दौड़ते हुए आते हैं, क्योंकि उन्हें खबर है कि सारी रात शांति से घास खाना है, इसलिए उन्हें उल्लास आता है और गति में वेग आता है। देखो, बैल जैसे प्राणी को भी छुटकारे का उल्लास आता है। उसीप्रकार आत्मा अनादिकाल से स्वभावगृह से च्युत होकर संसार में भटक रहा है, श्रीगुरु उसे स्वभावगृह में लौटने की बात सुनाते हैं। अपनी मुक्ति का मार्ग सुनकर जीव को यदि उल्लास न आये तो वह बैलों से भी गया बीता है। पात्र जीव को तो अपने स्वभाव की बात सुनकर ही अंतर से मुक्ति का उल्लास आता है और उसका परिणमन वेगपूर्वक स्वभाव की ओर ढलता है। जितने काल तक संसार में भटका उतना मोक्ष का उपाय करने में नहीं लगता, क्योंकि विकार की अपेक्षा स्वभाव की ओर का वीर्य अनंतगुना है, इसलिए वह अल्पकाल में ही मुक्ति की साधना कर लेता है, किन्तु उसके लिए जीव के अंतर में उल्लास आना चाहिए।

25. मोक्षार्थी को मुक्ति का उल्लास (बछड़े का दृष्टांत)

श्री परमात्मप्रकाश में पशु का दृष्टान्त देकर कहते हैं कि मोक्ष में यदि उत्तम सुख न होता तो

पशु भी बंधन में से छूटने की इच्छा कैसे करते ? देखो, बंधन में बंधे हुए बछड़े को पानी पिलाने के लिए बंधन से छूटा करने लगे, वहाँ वह छूटने के हर्ष में उछल-कूद करने लगता है, अहा ! छूटने के समय गौ का बच्चा भी उल्लसित होकर उछलने लगता है, तो अरे जीव ! तू अनादि अनंतकाल से अज्ञानभाव से इस संसार बंधन में बँधा हुआ है और अब इस मनुष्यभव में सत्समागम द्वारा इस संसारबंधन से मुक्त होने का अवसर आया है। श्री आचार्यदेव कहते हैं कि हम संसार से छुटकारा होकर मोक्ष हो, ऐसी बात सुनाते हैं और वह सुनकर तुझे यदि संसार से छूटने का उल्लास न आये तो तू उस बछड़े से गया बीता है। खुली हवा में विचरने का और स्वतंत्रता से पाानी पीने का अवसर मिलने से स्वतंत्रता का हर्ष मानने में बछड़े को भी कैसा उल्लास आता है। तब फिर जिसे समझने से अनादि के संसार-बंधन से छूटकर मोक्ष के परम आनंद की प्राप्ति हो - ऐसी चैतन्यस्वभाव की बात ज्ञानी के निकट जाकर सुनने से किस आत्मार्थी जीव को अंतर में रुचि और उल्लास नहीं आयेगा ? और जिसे अंतर में सत् समझने का उल्लास है, उसे अल्पकाल में मुक्ति हुए बिना नहीं रहेगी। प्रथम तो, जीव को संसार-भ्रमण में मनुष्यभव और सत् का श्रवण मिलना ही अति दुर्लभ है और क्वचित् सत् का श्रवण मिल भी गया, तथापि जीव ने विचार करके, सत् का उल्लास लाकर अंतर में नहीं उतारा, इसी से संसार में भटका। भाई ! तुझे यह शोभा नहीं देता! ऐसा अमूल्य अवसर आने पर भी तू आत्मस्वभाव को नहीं समझेगा तो फिर कब समझेगा ? और उसे समझे बिना तेरे भवभ्रमण का अंत कैसे आयेगा ? इसलिए अंतर से उल्लास लाकर सत्समागम से यथार्थ समझ ले।

26. जिज्ञासा

जीव अज्ञान के कारण अनादिकाल से अवतारों में बैल की भांति दु:खी हो रहा है, तथापि उनसे छूटने की जिज्ञासा भी मूढ़ जीव को नहीं होती। छोटेसे ग्राम में एक किसान पूछता था कि 'महाराज ! आत्मा अवतारों में भटक रहा है, उस भटकने का अंत आये और मुक्ति हो, ऐसा कुछ बतलाइये!' ऐसी जिज्ञासा का प्रश्न भी किसी को ही उठता है। ऐसा अमूल्य अवसर पुन: पुन: नहीं मिलता, इसलिए जिज्ञासु होकर, अंतर में मिलान करके सच्चा आत्मस्वरूप क्या है, उसे समझना चाहिए, क्योंकि जो शुद्ध आत्मा को पहिचान लेता है, उसी को शुद्धात्मा की प्राप्ति होती है।

भगवान श्री कुन्दकुन्द-कहान जैन शास्त्रमाला के

हिन्दी प्रकाशन

परम पूज्य सद्गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के आध्यात्मिक प्रवचनों का अपूर्व लाभ लेने के लिये जिज्ञासु निम्नलिखित पुस्तकों की स्वाध्याय अवश्य करें!

समयसार -प्रवचन (भाग-1)	6-0-0
समयसार -प्रवचन (भाग-2)	5-0-0
मोक्षमार्गप्रकाशक की किरणें	1-6-0
दशलक्षण-धर्म	0-12-0
सम्यग्दर्शन	2-8-0
भेदविज्ञानसार	2-0-0
मूल में भूल	0-12-0
मुक्ति का मार्ग	0-10-0
आत्मधर्म की फाइलें	3-12-0

उपरोक्त पुस्तकों में 'सम्यग्दर्शन' नाम की पुस्तक अभी प्रगट हुई है, जो प्रत्येक जिज्ञासु को अवश्य पढ़ने योग्य है।

[डाकव्यय अतिरिक्त]

प्राप्तिस्थान —

श्री जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट

सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

मुद्रक : चुनीलाल माणेकचंद रवाणी, शिष्ट साहित्य मुद्रणालय, मोटा आंकडिया (अमरेली)
प्रकाशक : जमनादास माणेकचंद रवाणी, अनेकान्त मुद्रणालय, मोटा आंकडिया (अमरेली)